अध्याय बारह

भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; **एवम्**–इस प्रकार; **सतत**–निरन्तर; **युक्ताः**–तत्पर; **ये**–जो; **भक्ताः**–भक्तगण; **त्वाम्**–आपको; **पर्युपासते**–ठीक से पूजते हैं; **ये**–जो; **च**–भी; **अपि**–पुनः; **अक्षरम्**–इन्द्रियों से परे; **अव्यक्तम्**–अप्रकट को; **तेषाम्**–उनमें से; **के**–कौन; **योगवित्-तमाः**–योगविद्या में अत्यन्त निपुण।

अर्जुन ने पूछा—जो आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, या जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म की पूजा करते हैं, इन दोनों में से किसे अधिक पूर्ण (सिद्ध) माना जाय?

तात्पर्य : अब तक कृष्ण साकार, निराकार एवं सर्वव्यापकत्व को समझा चुके हैं और सभी प्रकार के भक्तों और योगियों का भी वर्णन कर चुके हैं। सामान्यतः अध्यात्मवादियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी। सगुणवादी भक्त अपनी सारी शक्ति से परमेश्वर की सेवा करता है। निर्विशेषवादी भी

कृष्ण की सेवा करता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से न करके वह अप्रत्यक्ष निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है।

इस अध्याय में हम देखेंगे कि परम सत्य की अनुभूति की विभिन्न विधियों में भक्तियोग सर्वोत्कृष्ट है। यदि कोई भगवान् का सान्निध्य चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए।

जो लोग भक्ति के द्वारा परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करते है, वे सगुणवादी कहलाते हैं। जो लोग निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निर्विशेषवादी कहलाते हैं। यहाँ पर अर्जुन पूछता है कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। यद्यपि परम सत्य के साक्षात्कार के अनेक साधन हैं, किन्तु इस अध्याय में कृष्ण भक्तियोग को सबों में श्रेष्ठ बताते हैं। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष है और ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सबसे सुगम साधन है।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परम सत्य परम पूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परम पूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ही ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवें अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है, वह कृष्ण के धाम को तुरन्त चला जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान् स्पष्ट कहते हैं, कि योगियों में से, जो भी अपने अन्तःकरण में निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है, वही परम सिद्ध माना जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य को कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, क्योंकि वही चरम आत्म-साक्षात्कार है।

इतने पर भी ऐसे लोग हैं जो कृष्ण के साकार रूप के प्रति अनुरक्त नहीं होते। वे दृढ़तापूर्वक विलग रहते है यहाँ तक कि *भगवद्गीता* की टीका करते हुए भी वे अन्य लोगों को कृष्ण से हटाना चाहते हैं, और उनकी सारी भक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति की ओर मोड़ते हैं। वे परम सत्य के उस निराकार रूप का ही ध्यान करना श्रेष्ठ मानते हैं, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है तथा अप्रकट है।

इस तरह सचमुच में अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं। अब अर्जुन यह निश्चित कर लेना चाहता है कि कौन-सी विधि सुगम है, और इन दोनों श्रेणियों में से कौन सर्वाधिक पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर लेना चाहता है, क्योंकि वह कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त है। वह निराकार ब्रह्म के प्रति आसक्त नहीं है। वह जान लेना चाहता है कि उसकी स्थिति सुरक्षित तो है! निराकार स्वरूप, चाहे इस लोक में हो चाहे भगवान् के परम लोक में हो, ध्यान के लिए समस्या बना रहता है। वास्तव में कोई भी परम सत्य के निराकार रूप का ठीक से चिन्तन नहीं कर सकता। अतः अर्जुन कहना चाहता है कि इस तरह से समय गँवाने से क्या लाभ? अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि कृष्ण के साकार रूप के प्रति आसक्त होना श्रेष्ठ है, क्योंकि इस तरह वह एक ही समय अन्य सारे रूपों को समझ सकता है और कृष्ण के प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। अतः अर्जुन द्वारा कृष्ण से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के पूछे जाने से परम सत्य के निराकार तथा साकार स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥२॥

श्रीभगवान् उवाच–श्रीभगवान् ने कहा; **मयि**–मुझमें; **आवेश्य**–स्थिर करके; **मनः**–मन को; **माम्**–मुझको; **नित्य**–सदा; **युक्ताः**–लगे हुए; **उपासते**–पूजा करते हैं; **श्रद्धया**–श्रद्धापूर्वक; **परया**–दिव्य; **उपेताः**–प्रवृत्त; **ते**–वे; **मे**–मेरे द्वारा; **युक्त-तमाः**–योग में परम सिद्ध; **मताः**–माने जाते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा—जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं, और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं, वे मेरे द्वारा परम सिद्ध माने जाते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यक्ति उनके साकार रूप में अपने मन को एकाग्र करता है, और जो अत्यन्त श्रद्धा तथा निष्ठापूर्वक उनकी पूजता है, उसे योग में परम सिद्ध मानना चाहिए। जो इस प्रकार कृष्णभावनाभावित होता है, उसके लिए कोई भी भौतिक कार्यकलाप नहीं रह जाते, क्योंकि हर कार्य कृष्ण के लिए किया जाता है। शुद्ध भक्त निरन्तर कार्यरत रहता है–कभी कीर्तन करता है, तो कभी श्रवण करता है, या कृष्ण विषयक कोई पुस्तक पढ़ता है, या कभी-कभी प्रसाद तैयार करता है या बाजार से कृष्ण के लिए कुछ मोल लाता है, या कभी मन्दिर झाड़ता-बुहारता है, तो कभी बर्तन धोता है। वह जो कुछ भी करता है, कृष्ण सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक क्षण भी नहीं गंवाता। ऐसा कार्य पूर्ण समाधि कहलाता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

ये–जो; **तु**–लेकिन; **अक्षरम्**–इन्द्रिय अनुभूति से परे; **अनिर्देश्यम्**–अनिश्चित; **अव्यक्तम्**–अप्रकट; **पर्युपासते**–पूजा करने में पूर्णतया संलग्न; **सर्वत्र-गम्**–सर्वव्यापी; **अचिन्त्यम्**–अकल्पनीय; **च**–भी; **कूट-स्थम्**–अपरिवर्तित; **अचलम्**–स्थिर; **ध्रुवम्**–निश्चित; **सन्नियम्य**–वश में करके; **इन्द्रिय-ग्रामम्**–सारी इन्द्रियों को; **सर्वत्र**–सभी स्थानों में; **सम-बुद्धयः**–समदर्शी; **ते**–वे; **प्राप्नुवन्ति**–प्राप्त करते हैं; **माम्**–मुझको; **एव**–निश्चय ही; **सर्व-भूत-हिते**–समस्त जीवों के कल्याण के लिए; **रताः**–संलग्न।

लेकिन जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में करके तथा सबों के प्रति समभाव रखकर परम सत्य की निराकार कल्पना के अन्तर्गत उस अव्यक्त की पूरी तरह से पूजा करते हैं, जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, सर्वव्यापी है, अकल्पनीय है,

अपरिवर्तनीय है, अचल तथा ध्रुव है, वे समस्त लोगों के कल्याण में संलग्न रहकर अन्ततः मुझे प्राप्त करते है।

तात्पर्य : जो लोग भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष पूजा न करके, अप्रत्यक्ष विधि से उसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, वे भी अन्ततः श्रीकृष्ण को प्राप्त होते हैं। "अनेक जन्मों के बाद बुद्धिमान व्यक्ति वासुदेव को ही सब कुछ जानते हुए मेरी शरण में आता है।" जब मनुष्य को अनेक जन्मों के बाद पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह कृष्ण की शरण ग्रहण करता है। यदि कोई इस श्लोक में बताई गई विधि से भगवान् के पास पहुँचना है, तो उसे इन्द्रियनिग्रह करना होता है, प्रत्येक प्राणी की सेवा करनी होती है, और समस्त जीवों के कल्याण-कार्य में रत होना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को भगवान् कृष्ण के पास पहुँचना ही होता है, अन्यथा पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाता। प्रायः भगवान् की शरण में जाने के पूर्व पर्याप्त तपस्या करनी होती है।

आत्मा के भीतर परमात्मा का दर्शन करने के लिए मनुष्य को देखना, सुनना, स्वाद लेना, कार्य करना आदि ऐन्द्रिय कार्यों को बन्द करना होता है। तभी वह यह जान पाता है कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। ऐसी अनुभूति होने पर वह किसी जीव से ईर्ष्या नहीं करता—उसे मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह केवल आत्मा का दर्शन करता है, बाह्य आवरण का नहीं। लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिए निराकार अनुभूति की यह विधि अत्यन्त कठिन सिद्ध होती है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

क्लेशः—कष्ट; **अधिकतरः**—अत्यधिक; **तेषाम्**—उन; **अव्यक्त**—अव्यक्त के प्रति; **आसक्त**—अनुरक्त; **चेतसाम्**—मन वालों का; **अव्यक्ता**—अव्यक्त की ओर; **हि**—निश्चय ही; **गतिः**—प्रगति; **दुःखम्**—दुख के साथ; **देह-वद्भिः**—देहधारी के द्वारा; **अवाप्यते**—प्राप्त किया जाता है।

जिन लोगों के मन परमेश्वर के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद है। देहधारियों के लिए उस क्षेत्र में प्रगति कर पाना सदैव दुष्कर होता है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों का समूह, जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुसरण करता है, ज्ञान-योगी कहलाता है, और जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहते हैं, वे भक्ति-योगी कहलाते हैं। यहाँ पर ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग में निश्चित अन्तर बताया गया है। ज्ञान-योग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुँचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक, जब कि भक्ति-योग भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है, और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है। जीव अनादि काल से देहधारी है। सैद्धान्तिक रूप से उसके लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि वह शरीर नहीं है। अतएव भक्ति-योगी कृष्ण के विग्रह को पूज्य मानता है, क्योंकि उसके मन में कोई न कोई शारीरिक बोध रहता है, जिसे इस रूप में

पूजा किया जा सकता है। निस्सन्देह मन्दिर में परमेश्वर के स्वरूप की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। वैदिक साहित्य में साक्ष्य मिलता है कि पूजा *सगुण* तथा *निर्गुण* हो सकती है। मन्दिर में विग्रह-पूजा सगुण पूजा है, क्योंकि भगवान् को भौतिक गुणों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। लेकिन भगवान् के स्वरूप को चाहे पत्थर, लकड़ी या तैलचित्र जैसे भौतिक गुणों द्वारा क्यों न अभिव्यक्त किया जाय वह वास्तव में भौतिक नहीं होता। परमेश्वर की यही परम प्रकृति है।

यहाँ पर एक मोटा उदाहरण दिया जा सकता है। सड़कों के किनारे पत्रपेटिकाएँ होती हैं, जिनमें यदि हम अपने पत्र डाल दें, तो वे बिना किसी कठिनाई के अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यदि कोई ऐसी पुरानी पेटिका, या उसकी अनुकृति कहीं दिखे, जो डाकघर द्वारा स्वीकृत न हो, तो उससे वही कार्य नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार ईश्वर ने विग्रहरूप में, जिसे अर्चा-विग्रह कहते हैं, अपना प्रामाणिक (वैध) स्वरूप बना रखा है। यह अर्चा-विग्रह परमेश्वर का अवतार होता है। ईश्वर इसी स्वरूप के माध्यम से सेवा स्वीकार करते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अर्चा-विग्रह रूपी अपने अवतार से भक्त की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं, जिससे बद्ध जीवन वाले मनुष्य को सुविधा हो।

इस प्रकार भक्त को भगवान् के पास सीधे और तुरन्त ही पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि का अनुसरण करते हैं, उनके लिए यह मार्ग कठिन है। उन्हें उपनिषदों जैसे वैदिक साहित्य के माध्यम से अव्यक्त स्वरूप को समझना होता है, उन्हें भाषा सीखनी होती है, इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना होता है, और इन समस्त विधियों का ध्यान रखना होता है। यह सब एक सामान्य व्यक्ति के लिए सुगम नहीं होता। कृष्णभावनामृत में भक्तिरत मनुष्य मात्र गुरु के पथप्रदर्शन द्वारा, मात्र अर्चाविग्रह के नियमित नमस्कार द्वारा, मात्र भगवान् की महिमा के श्रवण द्वारा तथा मात्र भगवान् पर चढ़ाये गये उच्छिष्ट भोजन को खाने से भगवान् को सरलता से समझ लेता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही कष्टकारक पथ को ग्रहण करते हैं, जिसमें अन्ततः परम सत्य का साक्षात्कार संदिग्ध बना रहता है। किन्तु सगुणवादी बिना किसी संकट, कष्ट या कठिनाई के भगवान् के पास सीधे पहुँच जाते हैं। ऐसा ही संदर्भ *श्रीमद्भागवत* में पाया जाता है। वहाँ यह कहा गया है कि यदि अन्ततः भगवान् की शरण में जाना ही है (इस शरण जाने की क्रिया को भक्ति कहते हैं) तो यदि कोई, ब्रह्म क्या है और क्या नहीं है, इसी को समझने का कष्ट आजीवन उठाता रहता है, तो इसका परिणाम अत्यन्त कष्टकारक होता है। अतएव यहाँ पर यह उपदेश दिया गया है कि आत्म-साक्षात्कार के इस कष्टप्रद मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तिम फल अनिश्चित रहता है।

जीव शाश्वत रूप से व्यष्टि आत्मा है और यदि वह आध्यात्मिक पूर्ण में तदाकार होना चाहता है तो वह अपनी मूल प्रकृति के शाश्वत (सत्) तथा ज्ञेय (चित्) पक्षों का साक्षात्कार तो कर सकता है, लेकिन आनन्दमय अंश की प्राप्ति नहीं हो पाती। ऐसा अध्यात्मवादी जो ज्ञानयोग में अत्यन्त विद्वान होता है, किसी भक्त के अनुग्रह से भक्तियोग को प्राप्त होता है। उस समय निराकारवाद का दीर्घ अभ्यास कष्ट का कारण बन जाता

है, क्योंकि वह उस विचार को त्याग नहीं पाता। अतएव देहधारी जीव, अभ्यास के समय या साक्षात्कार के समय, अव्यक्त की प्राप्ति में सदैव कठिनाई में पड़ जाता है। प्रत्येक जीव अंशतः स्वतन्त्र है और उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह अव्यक्त अनुभूति उसके आध्यात्मिक आनन्दमय आत्म (स्व) की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य को चाहिए कि इस विधि को न अपनाये। प्रत्येक जीव के लिए कृष्णचेतना की विधि श्रेष्ठ मार्ग है, जिसमें भक्ति में पूरी तरह व्यस्त रहना होता है। यदि कोई भक्ति की उपेक्षा करना चाहता है, तो नास्तिक होने का संकट रहता है। अतएव अव्यक्त विषयक एकाग्रता की विधि को, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है, जैसा कि इस श्लोक में पहले कहा जा चुका है, इस युग में प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसका उपदेश नहीं दिया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

ये–जो; **तु**–लेकिन; **सर्वाणि**–समस्त; **कर्माणि**–कर्मों को; **मयि**–मुझमें; **संन्यस्य**–त्याग कर; **मत्-पराः**–मुझमें आसक्त; **अनन्येन**–अनन्य; **एव**–निश्चय ही; **योगेन**–ऐसे भक्तियोग के अभ्यास से; **माम्**–मुझको; **ध्यायन्तः**–ध्यान करते हुए; **उपासते**–पूजा करते हैं; **तेषाम्**–उनका; **अहम्**–मैं; **समुद्धर्ता**–उद्धारक; **मृत्यु**–मृत्यु के; **संसार**–संसार रूपी; **सागरात्**–समुद्र से; **भवामि**–होता हूँ; **न**–नहीं; **चिरात्**–दीर्घकाल के बाद; **पार्थ**–हे पृथापुत्र; **मयि**–मुझ पर; **आवेशित**–स्थिर; **चेतसाम्**–मन वालों को।

जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचलित भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं और अपने चित्तों को मुझ पर स्थिर करके निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, उनके लिए हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तजन अत्यन्त भाग्यशाली हैं कि भगवान् उनका इस भवसागर से तुरन्त ही उद्धार कर देते हैं। शुद्ध भक्ति करने पर मनुष्य को इसकी अनुभूति होने लगती है कि ईश्वर महान हैं और जीवात्मा उनके अधीन है। उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे और यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे माया की सेवा करनी होगी।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि केवल भक्ति से परमेश्वर को जाना जा सकता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण रूप से भक्त बने। भगवान् को प्राप्त करने के लिए वह अपने मन को कृष्ण में पूर्णतया एकाग्र करे। वह कृष्ण के लिए ही कर्म करे। चाहे वह जो भी कर्म करे लेकिन वह कर्म केवल कृष्ण के लिए होना चाहिए। भक्ति का यही आदर्श है। भक्त भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसके जीवन का उद्देश्य कृष्ण को प्रसन्न करना होता है और कृष्ण की तुष्टि के लिए

सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था। इस विधि अत्यन्त सरल है। मनुष्य अपने कार्य में लगा रह कर हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन कर सकता है। ऐसे दिव्य कीर्तन से भक्त भगवान् के प्रति आकृष्ट हो जाता है। यहाँ पर भगवान् वचन देते हैं कि वे ऐसे शुद्ध भक्त का तुरन्त ही भवसागर से उद्धार कर देंगे। जो योगाभ्यास में बढ़े चढ़े हैं, वे योग द्वारा अपनी आत्मा को इच्छानुसार किसी भी लोक में ले जा सकते हैं और अन्य लोग इस अवसर को विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं, लेकिन जहाँ तक भक्त का सम्बन्ध है, उसके लिए यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि स्वयं भगवान् ही उसे ले जाते हैं। भक्त को वैकुण्ठ में जाने के पूर्व अनुभवी बनने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। *वराह पुराण* में एक श्लोक आया है—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः॥

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठलोक में आत्मा को ले जाने के लिए भक्त को अष्टांगयोग साधने की आवश्यकता नहीं है। इसका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर लेते हैं। वे यहाँ पर स्पष्ट कह रहे हैं कि वे स्वयं ही उद्धारक बनते हैं। बालक अपने माता-पिता द्वारा अपने आप रक्षित होता रहता है, जिससे उसकी स्थिति सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार भक्त को योगाभ्यास द्वारा अन्य लोकों में जाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु भगवान् अपने अनुग्रहवश स्वयं ही अपने पक्षीवाहन गरुड़ पर सवार होकर तुरन्त आते हैं और भक्त को भवसागर से उबार लेते हैं। कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, और कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु समुद्र में गिर जाने पर वह अपने को नहीं बचा सकता। किन्तु यदि कोई आकर उसे जल से बाहर निकाल ले, तो वह आसानी से बच जाता है। इसी प्रकार भगवान् भक्त को इस भवसागर से निकाल लेते हैं। मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत की सुगम विधि का अभ्यास करना होता है, और अपने आपको अनन्य भक्ति में प्रवृत्त करना होता है। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अन्य समस्त मार्गों की अपेक्षा भक्तियोग को चुने।

नारायणीय में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सकाम कर्म की विभिन्न विधियों में उलझे, न ही कोरे चिन्तन से ज्ञान का अनुशीलन करे। जो परम भगवान् की भक्ति में लीन है, वह उन समस्त लक्ष्यों को प्राप्त करता है जो अन्य योग विधियों, चिन्तन, अनुष्ठानों, यज्ञों, दानपुण्यों आदि से प्राप्त होने वाले हैं। भक्ति का यही विशेष वरदान है।

केवल कृष्ण के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करने से ही भक्त सरलता तथा सुखपूर्वक परम धाम को पहुँच सकता है। लेकिन इस धाम को अन्य किसी धार्मिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भगवद्गीता का निष्कर्ष अठारहवें अध्याय में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग कर केवल कृष्णभावनामृत में भक्ति सम्पन्न करनी चाहिए। इससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को अपने गत जीवन के पाप कर्मों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। अतएव मनुष्य को व्यर्थ ही आध्यात्मिक अनुभूति में अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परम शक्तिमान ईश्वर कृष्ण की शरण ग्रहण करे। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।